

## 27.5 समकालीन आलोचना : परिवर्तन के बिंदु

सातवें दशक की गहमागहमी के बाद परिवर्तन के आसार नज़र आने लगे। कवियों और कथाकारों की एक युवा पीढ़ी ने नए तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया। इनका मुहावरा भी नया था और इनकी यथार्थ-दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था। इसके अलावा इनका रुख सामान्यतः आलोचना-विशेषी था। फिर भी समकालीन रचना के द्वीप से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए। इनमें से आलोचना के प्रति गमीर समर्पण वृत्ति दो रचनाकारों में विशेष रूप से दिखाई पड़ी - मलयज और रमेशवंद्र शाह। इनमें भी मलयज विशेष उत्तेजनीय है।

मलयज की आलोचनात्मक समझ की छाप उनके पहले संग्रह, 'कविता से साक्षात्कार' से ही पड़ गई थी। मलयज की विशेषता यह है कि वे आलोच्य कृति के 'वास्तविक भूल्योकन की कुंजी' उसी के भीतर तलाशते हैं। 'तीसरे अङ्गों की तलाश' में अङ्गों की काव्य-पैकितियों में उन्होंने यह कुंजी तलाश की और शमशेर के 'निर्मम काव्य-शिल्प' को उन्होंने कवियों के वक्ताओं के सहारे खोलने का जोखिम उठाया। त्रिलोधन की काव्य-वस्तु और संवेदना को एकदम ठीक पहचानते हुए उन्हें मलयज ने 'औसत भारतीयता का कवि' कहा। भारतीयता के अभिप्राय को स्पष्ट किया और अंत में उनकी कविता के बारे में ऐसे सवाल उठाएं जिनके बारे में खुब उनका कहना था कि 'इन प्रस्तों के उत्तर की सहज सुविधा फिलहाल त्रिलोधन की कविताएँ हमें नहीं देती।'

मलयज आलोचना की सबसे अनिवार्य शर्त 'निर्मम तटस्थता' को पूछ करते हैं। वे न फतवे देते हैं न नारेन्मा याक्य उघालते हैं। पूरी संवेदनशीलता और आलोचनात्मक विवेक से धीरे से सही जगह ढैंगती रख देते हैं। उन्होंने कभी आलोचना का सीद्धांतिक ढाँचा भी खड़ा करने का दावा नहीं किया, क्योंकि अपने निष्कर्षों को वे : 'समकालीन जीवन और कविता के परस्पर संबंधों की खोज में आए विभिन्न पड़ाव' कहते थे। अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में उन्होंने कहा था कि : 'आलोचना को रचना की सध्यन और तनावपूर्ण शतों पर पाना मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है।' मलयज हिंदी आलोचना के लिए एक नई भाषा बना रहे थे, जो 'आचार्य शुक्ल की ही परंपरा में वस्तुमुखी, यथात्त्व, तर्कनिष्ठ, भाव-संचलित, सध्यन और सांद्र है।'

रमेशवंद्र शाह की पद्धति दूसरी है। वे 'सर्जनात्मक समीक्षा' पर जोर देते हैं और इसके लिए रचनाकार की 'सृजन-प्रक्रिया' का आत्मीय विश्लेषण जल्दी समझते थे। जाहिर है, इस पद्धति की वस्तुनिष्ठता असंदिध्य नहीं हो सकती, पर इससे आलोचना कर्म के प्रति शाह की संजीदगी कम नहीं होती। इनके अलावा विजयमोहन सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे वरीह ने भी कुछ समीक्षात्मक

लेख लिखे, पर कोई निश्चित पद्धति या संदृष्टिकी उनसे भी विकसित नहीं हुई। कुल मिलाकर सदी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति न बहुत आशाजनक रह गई है न उत्साहवर्धक। आलोचना बहुत है, आलोचक बहुत कम। प्रतिभा और आलोचनात्मक विवेक की कमी नहीं है। इस दृष्टि से ऐनेजर पाप्डेय और विश्वनाय त्रिपाठी का नाम उत्स्वेच्छनीय है। इन प्रतिभावान रचनाकारों ने आलोचना की कोई संदृष्टिकी या पद्धति तो निर्मित नहीं की पर उनके समीक्षात्मक लेखों और टिप्पणियों में प्रखर आलोचनात्मक विवेक दिखाई पड़ता है। इन्होंने न तो पहले के रचनाकारों की तरह अपनी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करने में कोई रुचि दिखाई और न ही आलोचना-कर्म के प्रति उस निष्ठा और संजीदगी की परिषय दिया जो कमी भलवज में दिखाई पड़ी थी। समीक्षा लेखकों की सूची काफी बड़ी की जा सकती है। साहित्य की मूलभूत समस्याओं पर विश्लेषण करने के लिए भज्जबूर करते हैं। पर आलोचना की स्थिति कुल मिलाकर केंद्रीय नहीं रह गई है।

कुछ सक्रियता उत्तर-आधुनिकतावाद की राजावती के सहारे कृतियों की सतही तोड़-फोड़ करने वाले आलोचकों में दिखाई पड़ा रही है। उत्तर आधुनिकतावाद के देसी-संस्करण रचनाकारों ने तो किसी हद तक पैश कर दिए हैं पर समानांतर आलोचनात्मक मुहावरा की आलोचकों से बन नहीं पा रहा है। दरअसल जो सिद्धांत सब कुछ के 'अंत' की घोषणा पर टिका हो ठोस विचारस्थान का जहाँ नकार हो वह सिवा बैतरीब विलेहन के और दे ही क्या सकता है। ऐसे प्रयत्नों से आलोचना में अराजकता ही अधिक फैली है।

निष्कर्ष रूप में दर्तमान हिंदी आलोचना अनेक प्रकार की विसंगतियों से पिर गई है। यह हर नए रचनात्मक प्रयात के प्रति निरंतर पाणग्रस्तकता का दायित्य निभाती रही है किंतु इस प्रक्रिया में समसामयिकता का आग्रह अधिक प्रबल हो गया है। आज के आलोचक की दृष्टि सुदूर अंतीत के लेखकों पर एकदम नहीं और निकट अंतीत के लेखकों पर बहुत कम जाती है। परम्परा से ऐसा संबंध-विच्छेद हिंदी आलोचना के इतिहास में पहले कम ही हुआ है। आज की आलोचना में व्यापक परिवृद्धि-वौय का रूपट अभाव दिखाई पड़ता है। पुस्तक-समीक्षाओं ने अधिकांश आलोचना-कर्म को कोरी व्यावहारिक समीक्षा के रूप में निशेष कर दिया है। ज्यादा यित्ता की बात यह है कि इन समीक्षा-लेखों के बीच कोई गंभीर या मूलभूत संयाल नहीं उठाए जाते। न ही समीक्षा के प्रतिभानों को लेकर इनके लेखकों को कोई दिक्कत पैश आती है। ये अक्सर रथ्यापित-विस्थापित करने की नियत से अतिरिजित राजावती में प्रहोसा-निंदा के आगे कम ही बढ़ते हैं। इसलिए इनकी विश्वसनीयता भी कम ही होती है। नतीजतन संदृष्टिक आलोचना का भैदान अपने-आप 'एकड़ा-भै' ... दोनों के हाल जा पड़ा है। जहाँ वे प्रात्मगिकता की यित्ता किए बिना काव्यशास्त्र, सौदर्य-मीमांसा आदि की पिण्ठपेति शास्त्रीय चर्चाओं से भरे भारी-भरकम ग्रंथों से हिंदी-आलोचना का भेदार भरने के लिए स्थत्र बने हैं। न उन्हें रचनात्मक साहित्य की यित्ता है न रचनाकार को उनकी परवाह है।

कुछ इतिहास और समाजशास्त्र के विद्वानों ने भी साहित्यिक कृतियों का उपयोग खोत सामग्री के रूप में करते हुए साहित्य के मूल्यांकन की नई दिशाएँ प्रस्तावित की हैं। मध्यकालीन साहित्य के प्रसंग में सुविद्यात विद्वान इरुकान हीबी और हरवंस मुखिया का नाम उत्स्वेच्छनीय है।

आधुनिक उपन्यास साहित्य और उसमें भी विशेष रूप से प्रेमचंद के साहित्य का उपयोग प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पूर्णचंद्र जोशी ने अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और दिकास के सांस्कृतिक आवाम' में और श्यामाचरण दुबे ने 'परेपत, इतिहास-जीवित और संस्कृति' में किया है। यह संयोग नहीं है कि दोनों की दिलचस्पी प्रेमचंद के साहित्य में है। दरअसल दोनों का आग्रह ग्रामीण समाज-व्यवस्था को समझने पर है, और भास्तीय ग्राम जीवन और संदर्भों की समझ के लिए प्रेमचंद का कथा-साहित्य निश्चय ही मूल्यवान खोत है। इन सामाजशास्त्री आलोचकों का महत्व हिंदी आलोचना को एक नया परिवेष्य और पद्धति देने की दृष्टि से है।

इसके बावजूद हिंदी आलोचना का सबसे धीरंदं पक्ष काफी समव तक समसनीयोग पत्रकारिता का शिकार रहा है। कुछ अपवाहों को छोड़कर आलोचना की भाषा का कोई निश्चित चरित्र नहीं बन पाता है। मूल्यांकन के जानवरों और पद्धतियों की दृष्टि से भी पर्याप्त अराजकता है। किंतु इसी स्थिति ने नए प्रयोगों और पद्धतियों की तलाश के लिए प्रभीन भी तैयार की है। जो आलोचक स्वयं रचना-कर्म के प्रति नए सिरे से आत्मसंजग होने लगे हैं, उम्मीद उन्होंने से की जा सकती है।

संवेद में, पिछले तीन दशकों की आलोचना की उपलब्धियों के बारे में कहा जा सकता है कि यथापि आलोचना के क्षेत्र में सक्रियता की कमी नहीं है, पर पूरे साहित्यिक परिवृद्धि के बीच से कोई संदृष्टिकी उमर कर नहीं आई है।

सातवें दशक की गहमागहमी के बाद जिन रचनाकारों ने नए तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया उनका रुख सामान्यतः आलोचना-विरोधी था। आलोचना के प्रति गंभीर समर्पण वृत्ति गिने-चुने रचनाकारों में ही दिखाई पड़ी। आलोचना के लिए तरह-तरह की पद्धतियों का प्रयोग किया गया। एक प्रस्ताव था कि आलोच्य कृति के वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी उसी के भीतर तलाशी जानी चाहिए। ऐसे आलोचक 'आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर' पाने का प्रयास करते रहे - बड़ी संवेदनशीलता और आलोचनात्मक विवेक से। कुछ आलोचकों ने 'सृजन-प्रक्रिया' के आत्मीय विश्लेषण की ज़रूरत पर बल दिया।

रचनाओं पर सभीक्षात्मक लेखों में भी प्रतिभा और आलोचनात्मक विवेक तो दिखाई पड़ता रहा लेकिन कोई सैद्धांतिकी निर्मित नहीं हो सकी। रचनाकारों में भी कुल मिलाकर आलोचना के प्रति उदासीनता दिखाई दी।

उत्तर-आधुनिकतावादी शब्दावली के सहारे पद्धति-विहीन विवेदन करने के कुछ प्रयास भी हुए पर कोई सुविधित आलोचनात्मक मुहावरा ऐसे लोग भी विकसित नहीं कर पाए।

समसामयिक रचनाओं पर तो सभीक्षात्मक लेखन बराबर जारी है। साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा का पुनर्मूल्यांकन या उसकी पुनर्व्याख्या या नए मूल्यांकन के प्रयास लगभग नहीं ही हुए हैं। यह काम केवल शतियों से सम्बद्ध समारोहों पर रस्म-अदायगी के बीतर किया जा रहा है। परंपरा से ऐसा संबंध विच्छेद पहले कभी नहीं हुआ।

इधर कुछ इतिहासकारों और समाजवैज्ञानिकों ने साहित्यिक चौतों का अध्ययन अपनी विच्य-सामग्री के रूप में किया है। इस तरह की व्याख्याओं और अध्ययनों का महत्व हिंदी आलोचना को एक नया परिषेक्ष्य और पद्धति देने की दृष्टि से है।

सदी के अंत में आलोचनात्मक परिदृश्य में कुल मिलाकर मूल्यांकन के मानदंडों और पद्धतियों की विविधता है। आलोचना बहुत है, सैद्धांतिकी नहीं के बराबर है। समसामयिकता का आग्रह सबसे प्रबल है। पर इसी स्थिति ने नए प्रयोगों और पद्धतियों की तलाश के लिए ज़मीन तैयार की है। उम्मीद उसी युग पीढ़ी से की जा सकती है, जो अपने आलोचक-कर्म और दायित्व के प्रति नए सिरे से सजग हो रहे हैं।